खरतर
सहस्राब्दी
गौरव वर्ष

खरतर बिरुद प्राप्ति का कालखंड

आचार्य जिनमणिप्रभसूरि

खरतरगच्छ का उद्‌भव कब हुआ, यह प्रश्न इन दिनों चर्चा का विषय बना हुआ है।

इतिहास में बहुत शोध करनी होती है। तथ्य निकालने होते हैं। उस समय की स्थिति, परिस्थिति, प्राप्त प्रामाणिक इतिवृत्त आदि का तटस्थता के साथ आकलन करके ही यथार्थता का पता लगाया जा सकता है।

यह घटना कोई आज की नहीं है। एक हजार वर्ष पूर्व घटी घटना है।

इतिहास की विषय–वस्तु पर चर्चा करने से पूर्व अपने चित्त को पूर्वाग्रह से दूर करना होता है। विरोध की मानसिकता से सत्य–तथ्य फलित नहीं हो सकता। अपने विचारों को नम्रता के साथ प्रस्तुत करना होता है।

हम ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर चिन्तन करें कि काल–खण्ड के कौन–से अंश में यह घटना घटी होगी!

यह घटना उस कालखंड का हिस्सा थी, जिस कालखण्ड में चैत्यवासियों के अत्यधिक प्रचलन से वसति मार्ग प्रायः बन्द हो गया था। ऐसे समय आचार्य वर्द्धमानसूरि जिनेश्वरसूरि हुए, जिन्होंने आगम–स्वाध्याय के परिणाम–स्वरूप वसति मार्ग की प्रतिष्ठा के लिये कटिबद्ध थे।

दादा जिनदत्तसूरि ने गुरु पारतंत्र्य स्तोत्र में इस घटना को इस प्रकार लिखा है–

पुरओ दुल्लह महिवल्लहस्स
अणहिल्लवाडए पयवं।
मुक्काविआरिउणं सीहेण व
दव्वलिंगि गया।।10।।

पाटण अधिपति दुर्लभराज के समक्ष आचार्य जिनेश्वरसूरि की सिंह गर्जना से चैत्यवासी पाटण से प्रस्थान कर गये।

चल रहे उस परिवेश को सर्वथा बदलने वाली यह क्रान्तिकारी घटना विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में घटी, इस मान्यता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। संवत् के संदर्भ में विचार–मंथन करना है।

खरतरगच्छ की सबसे प्राचीन पट्‌टावली कवि पल्ह ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में जिनदत्तसूरि की स्तुति के रूप में लिखी है। इसका लेखन दादा गुरुदेव जिनदत्तसूरि के समय में हुआ है। जैसलमेर के भंडार स्थित यह ताडपत्रीय प्रति वि. सं. 1170 में दादा जिनदत्तसूरि के शिष्य जिनरक्षित मुनि द्वारा धारा नगरी में लिखी गई है। एक दूसरी प्रति 1171 में पाटण नगर में दादा जिनदत्तसूरि के शिष्य ब्रह्मचंद्र गणी द्वारा लिखी गई है।

इस स्तुति रूप पट्‌टावली में स्पष्टतः लिखा है कि आचार्य वर्द्धमानसूरि और आचार्य जिनेश्वरसूरि को खरतर वर प्रदान किया गया–

देवसूरि पहु नेमिचंदु बहु गुणिहिं पसिद्धउ।
उज्जोयणु तह वद्धमाणु खरतर वर लद्धउ।।
सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि।
अभयदेउ सव्वंगु नाणि जिणवल्लहु आगमि।।

इस स्तुति में देवसूरि से लेकर जिनदत्तसूरि का नामोल्लेख कर उनकी स्तुति की है। खरतर वर प्राप्त किया, इसका उल्लेख है। परन्तु संवत् का उल्लेख इसमें प्राप्त नहीं है।

खरतर शब्द का प्राचीनतम उपलब्ध उल्लेख यही है। इस प्रमाण से वि. सं. 1204 में खरतरगच्छ की उत्पत्ति की बात स्वतः ही अप्रामाणिक हो जाती है।

दादा जिनदत्तसूरि ने गणधर सार्धशतक नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें आचार्य वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि से लेकर आचार्य जिनवल्लभसूरि तक के आचार्यों का पूरा वर्णन उपस्थित किया। सूराचार्य आदि को वाद में हराने की घटना का उल्लेख करते हुए अत्यन्त आदर के साथ उन्होंने लिखा कि आचार्य जिनेश्वरसूरि से सुविहित परम्परा प्रारंभ हुई। दादा जिनदत्तसूरि बारहवीं शताब्दी के

महापुरुष थे। इस ग्रन्थ का लेखन खरतरबिरुद की घटना के मात्र 100 वर्ष बाद ही हुआ था। उन्होंने इस ग्रन्थ में संवत् आदि का उल्लेख नहीं किया।

खरतरगच्छ की सबसे प्राचीन विस्तृत पट्टावली जो खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के नाम से जिनपाल उपाध्याय ने लिखी, वे आचार्य जिनपतिसूरि के शिष्य थे। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में इसका लेखन हुआ। उन्होंने वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि से लेकर आचार्य जिनेश्वरसूरि {द्वितीय} तक का वर्णन इस ग्रन्थ में किया है।

यह अचरज की बात है कि उन्होंने दुर्लभ राजा के समक्ष हुए इस चर्चा का वर्णन तो विस्तार से किया है, पर संवत् का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

प्रश्न होता है कि जब उन्होंने हर छोटी घटना का उल्लेख भी संवत्, मास, तिथि के साथ किया है तो इतनी बडी क्रान्तिकारी घटना का वर्णन करते समय संवत्, मास, तिथि का उल्लेख क्यों नहीं किया।

इस प्रश्न के उत्तर में महोपाध्याय विनयसागर जी लिखते हैं–

अर्वाचीन पट्टावलिकारों ने पट्टावलियों में कहीं 1080 सम्वत् का उल्लेख किया है तो किसी ने 1024 का! यह वस्तुतः श्रवण परम्परा पर आधारित है। इसको आधार मानकर कुछ लोग समय के विषय में निरर्थक ही विवाद उपस्थित करते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि युगप्रधान जिनदत्तसूरि, जिनपालोपाध्याय, सुमतिगणि, प्रभावकचरितकार आदि मौन हैं। इसका कारण भी यही है कि सब ही प्रबन्धकारों ने जनश्रुति, गीतार्थश्रुति के आधार से प्रबन्ध लिखे हैं और वे भी सब 100 और 250 वर्ष के मध्य काल में। वस्तुतः समग्र लेखकों ने संवत् के सम्बन्ध में मौन धारण कर ऐतिहयता की रक्षा की है अन्यथा संवत् के उल्लेख में असावधानी होना सहज संभाव्य था। महाराजा दुर्लभराज का राज्यकाल 1066 से 1078 माना जाता है, उसी के मध्य में यह घटना हुई है।'

–महोपाध्याय विनयसागर, खरतरगच्छ का बृहद् इतिहास, भूमिका पृष्ठ 30

खरतरबिरुद प्राप्ति के संवत् का उल्लेख सतरहवीं शताब्दी में रचे गये ग्रन्थों में मिलना प्रारंभ होता है। उसके पहले के ग्रन्थों में खरतर बिरुद मिला, दुर्लभ राजा द्वारा मिला, यह सब वर्णन तो मिलता है, पर संवत् का उल्लेख इससे पूर्व का नहीं मिलता।

इससे यह सिद्ध होता है कि संवत् का यह उल्लेख कर्णोपकर्ण पर आधारित था। इतने लम्बे समय बाद हो रहे उल्लेख में दो–चार वर्षों का अन्तर आना स्वाभाविक है। इस संदर्भ में दो उल्लेख मिलते हैं– एक 1024 का और दूसरा 1080 का! प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 1080 का उल्लेख सत्य के निकट है।

अब हम इस विषय पर विचार करें कि यह घटना कब घटित हुई होगी! उस समय का कोई प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं है। जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, वे सभी घटना के 600 वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल के बाद के हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया, उन्होंने इस संवत् का उल्लेख श्रवण परम्परा के आधार पर किया है।

विपुल संख्या में प्राप्त प्रमाणों से यह तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि दुर्लभराजा की सभा में आचार्य जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था और वे इसमें विजयी घोषित हुए थे और उस समय से ही वसति वास की परम्परा पुनः प्रतिष्ठित हुई थी।

युगप्रधान दादा जिनदत्तसूरि ने स्वप्रणीत गणधर सार्द्धशतक, सुगुरुपारतंत्र्यस्तव, सुगुरुगुणस्तव सप्ततिका आदि में स्पष्ट रूप से इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि अणहिलपुर पाटण में महाराजा दुर्लभराज की राज्यसभा में साध्वाचार को लेकर शास्त्रार्थ हुआ और इस विजय के उपलक्ष्य में सम्पूर्ण गुर्जर धरा में वसतिवास का प्रचार हुआ।

श्री सुमतिगणी ने गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्ति में शतक की गाथाओं की विवेचना में इस शास्त्रार्थ का विस्तार से वर्णन किया है।

वि. 1305 में रचित खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली नामक प्रबन्ध में जिनपालोपाध्याय ने इस घटना का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया है।

श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने प्रभावक चरित के अन्तर्गत आचार्य अभयदेवसूरि के चरित्र में पद्य 44 से 89 तक के वर्णन में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पाटण में शास्त्रार्थ हुआ और उसके बाद समस्त गुजरात

में वसतिवास की परम्परा स्थापित हुई।

वि. सं. 1080 को स्वीकार करने में दुर्लभराजा की उपस्थिति के संदर्भ में एक समस्या उपस्थित होती है। आचार्य मेरुतुंगसूरि ने विचार श्रेणी की स्थविरावली एवं राजावली कोष्ठक में स्पष्टतः यह उल्लेख किया है कि दुर्लभराज ने वि. 1066 से 1078 तक पाटण पर शासन किया था।

सभी प्रामाणिक इतिहासकार इस विषय में एकमत है। इसलिये प्रश्न होता है कि जब 1080 में दुर्लभराजा थे ही नहीं, तब शास्त्रार्थ किसकी अध्यक्षता में हुआ!

1080 को स्वीकार करने में शास्त्रार्थ की घटना पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। बीते कुछ वर्षों में इस विषय में खरतरगच्छ के इतिहास को विशेष रूप से परिश्रम पूर्वक प्रकाशित/प्रचारित/प्रसारित करने वाले सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री अगरचंदजी नाहटा, श्री भंवरलालजी नाहटा एवं महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने शोध पूर्वक प्रचुर परिश्रम किया था।

सुप्रसिद्ध इतिहासविद् श्री अगरचंदजी नाहटा के मतानुसार वि. 1080 के स्थान पर वि. 1066 या 1070 में शास्त्रार्थ की यह घटना घटी थी। मेरे संग्रह में आचार्य भगवंत श्री जिनहरिसागर सूरिजी म. के नाम श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा लिखा हुआ एक पत्र है। इस पत्र में उन्होंने खरतर बिरुद प्राप्ति के काल के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि उस समय की राजनैतिक परिस्थिति आदि के आधार पर यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि यह घटना 1080 में नहीं अपितु 1066 में घटी है।

उन्होंने वि. सं. 2016 में प्रकाशित खरतरगच्छ का इतिहास प्रथम भाग नामक ग्रन्थ के एक आलेख में वि. सं. 1070 में शास्त्रार्थ होना प्रमाणित किया है।

महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने इस विषय में बहुत शोध की है। उन्होंने अपने शोध प्रबन्ध 'वल्लभ भारती' नामक ग्रन्थ में प्रचुर ऊहापोह किया है। उनके मतानुसार वि. 1078 से पूर्व की यह घटना है।

महोपाध्याय विनयसागरजी द्वारा लिखित खरतरगच्छ का बृहद् इतिहास नामक ग्रन्थ में पृष्ठ 13 पर लिखा है कि दुर्लभराज का शासन वि. सं. 1076 तक ही रहा और उत्तरकालीन पट्टावलियाँ जो गीतार्थ परम्परा पर ही आधारित है, यदि उनमें दो चार वर्ष का अन्तर है तो यह सामान्य बात ही है।

मुनि चन्द्रप्रभसागरजी द्वारा लिखित खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास नामक ग्रन्थ में भी उन्होंने इसी मत का समर्थन किया है।

आचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरि समुदाय के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुनि श्री कान्तिसागरजी म. ने शत्रुंजय वैभव नामक ग्रन्थ में खरा बिरुद प्राप्त करने का संवत् 1078 निश्चित किया है।

पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मश्री विभूषित मुनि जिनविजयजी ने आचार्य जिनेश्वरसूरि रचित कथाकोष प्रकरण की विस्तृत भूमिका में इस विषय पर शोधपरक विवेचन किया है।

उन्होंने लिखा है–

पिछली पट्टावलियों में वाद–विवाद का संवत् दो तरह का लिखा हुआ मिलता है। एक है वि. सं. 1024 और दूसरा है 1080! इसमें 1024 का उल्लेख तो सर्वथा भ्रान्त है क्योंकि उस समय पाटण में तो दुर्लभराज के पितामह मूलराज का राज्य था। शायद दुर्लभराज का तो उस समय जन्म भी नहीं हुआ था।

दूसरा, जो 1080 संवत् का उल्लेख है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह स्थिर हुआ है कि दुर्लभराज की मृत्यु सं. 1078 में हो चुकी थी।

प्रबन्ध चिंतामणि, कुमारपाल प्रबंध, विचार श्रेणी आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार दुर्लभराजा ने वि. 1066 से 1078 तक साढे ग्यारह वर्ष तक पाटण पर राज्य किया था। उसके बाद उनके पुत्र भीमसेन गद्दी पर बैठा। 1080 में तो उनके पुत्र भीमदेव का राज्य प्रवर्तमान था।

तपागच्छीय इतिहासवेत्ता मुनि श्री कल्याणविजय जी म. ने पट्टावली पराग संग्रह नामक ग्रन्थ में उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि पाटण में वर्द्धमानसूरि अथवा जिनेश्वरसूरि से चैत्यवासी पराजित हुए परन्तु वि. सं. 1080 में इस घटना के घटित होने के उल्लेख को अविश्वसनीय ठहराते है। वे लिखते हैं– दुर्लभसेन का काल चालुक्य राजाओं की वंशावली के उल्लेखानुसार वि. सं. 1066 से 1078 तक ही रहा। तदनुसार वि. सं. 1080

में दुर्लभसेन की सभा में जिनेश्वरसूरि का शास्त्रार्थ कैसे संभव हो सकता है।

प्रवर्तिनी श्री विचक्षणश्रीजी की शिष्या साध्वी श्री मनोहरश्रीजी की शिष्या साध्वी डॉ. स्मितप्रज्ञाश्रीजी ने दादा गुरुदेव श्री जिनदत्तसूरि शोध प्रबन्ध में गुजरातनो प्राचीन इतिहास नामक ऐतिहासिक प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार से लिखा है—

दुर्लभराज के दरबार में चैत्यवासियों को परास्त कर जिनेश्वरसूरि ने 'खरतर' बिरुद प्राप्त किया था। फलतः उनका गच्छ खरतरगच्छ कहलाया।

दुर्लभराज के बाद भीमदेव प्रथम ईस्वी सन् 1022 अर्थात् वि.सं. 1078 में गादी पर आया।

—युगप्रधान आचार्य श्री जिनदत्तसूरि का जैनधर्म एवं साहित्य में योगदान
लेखिका—डॉ. स्मितप्रज्ञाश्री, पृष्ठ 3

भगवान महावीर के केवलज्ञान कल्याणक तीर्थ श्री ऋजुबालिका में विदुषी साध्वी मणिप्रभाश्रीजी की प्रेरणा से बने जिनमंदिर में प्रतिष्ठा की जो प्रशस्ति अंकित है, उसमें वि.सं. 1074 में खरतर बिरुद प्राप्ति का वर्णन है।

सं. 1080 में आचार्यश्री का जालोर होना—

आचार्य जिनेश्वरसूरि व आचार्य बुद्धिसागरसूरि दोनों भ्राता थे। दोनों सहोदर भी थे और गुरु बन्धु भी! अतः अपने शिष्यों के साथ दोनों साथ ही विचरण करते थे।

वि. सं. 1080 का चातुर्मास आचार्य जिनेश्वरसूरि व बुद्धिसागरसूरि का जालोर नगर में था। उस चातुर्मास व शेष काल में आचार्य जिनेश्वरसूरि ने हारिभद्रीय अष्टक टीका ग्रन्थ व प्रमालक्ष्म आदि ग्रन्थों की रचना की। तो उसी वर्ष जालोर में ही आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने स्वोपज्ञ पंचग्रन्थी नामक संस्कृत व्याकरण की रचना की थी। इस व्याकरण की प्रशस्ति में उन्होंने अपने बडे गुरुभ्राता आचार्य जिनेश्वरसूरि की प्रशंसा करते हुए जालोर नगर व वि. सं. 1080 का उल्लेख निम्न छंदों में किया है—

यदि मदिकृतिकल्पोऽनर्थधीर्मत्सरी वा,
कथमपि सदुपायैः शक्यते नोपकर्तुम्।
तदपि भवति पुण्यं
स्वाशयस्यानुकूल्ये,
पिबति सति यथेष्टं श्रोत्रियादौ
प्रपायाम् ।।9।।
अम्भोनिधिं समवगाह्य समाप लक्ष्मीं
चेद्वामनोऽपि पृथिवीं च पदत्रयेण।
श्रीबुद्धिसागरममुं त्ववगाह्य कोट्यो,
व्याप्नोति तेन जगतोऽपि पदद्वयेन ।।10।।
श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके
याति समासहस्रे {1080}।
सश्रीक**जाबालिपुरे** तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्
।।11।। ।।छ।।

।।इति श्री बुद्धिसागराचार्यविरचितं **पञ्चग्रन्थी व्याकरणं** समाप्तम्।। दिल्ली से सन् 2005 में प्रकाशित

आचार्य जिनेश्वरसूरि ने जालोर में ही वि. सं. 1080 में हारिभद्रीय अष्टक ग्रन्थ की टीका लिखी थी। उसकी प्रशस्ति में भी जालोर व वि. संवत् 1080 का स्पष्ट उल्लेख किया है—

जिनेश्वरानुग्रहतोऽष्टकानां,
विविच्य गम्भीरमपीममर्थम् ।
अवाप्य सम्यक्त्वमपेतरेकं,
सदैव लोकाश्चरणे यतध्वम् ।।1।।
सूरेः श्रीवर्धमानस्य, निःसंबन्धविहारिणः ।
हारिचारित्रपात्रस्य, श्रीचन्द्रकुलभूषिणः ।।2।।
पादाम्भोजद्विरेफेण, श्रीजिनेश्वरसूरिणा ।
अष्टकानां कृता वृत्तिः, सत्वानुग्रहहेतवे ।।3।।
समानामधिकेऽशीत्या, सहस्रं विक्रमाद् गते{1080}।
श्रीजावालिपुरे रम्ये, वृत्तिरेषा समापिता ।।4।।
नास्त्यस्माकं वचनरचनाचातुरी नापि तादृग् ,
बोधः शास्त्रे न च विवरणं नाऽ{वाऽ}स्ति पौराणमस्य ।
किन्त्वभ्यासो भवतु भणितौ सूदितायाममुष्मात् ,
संकल्पान्नो विवरणविधावत्र जाता प्रवृत्तिः ।।5।।
प्रत्यक्षरं निरूप्यास्या, ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ।
त्रयस्त्रिंशच्छतानि स्युः, श्लोकानां सप्ततिस्तथा ।।1।।
श्री चन्द्रकुलाम्बरभास्करश्रीजिनेश्वराचार्यकृता
तच्छिष्यश्रीमदभयदेवसूरिप्रतिसंस्कृता

अष्टकवृत्तिः समाप्ता ।।

आचार्य जिनेश्वरसूरि ने अष्टक वृत्ति की इस प्रशस्ति में स्पष्ट किया है कि वि. सं. 1080 में जालोर में यह ग्रन्थ लिखा।

आचार्य बुद्धिसागरसूरि कृत पंचग्रन्थी व्याकरण का

संशोधन आचार्य जिनेश्वरसूरि ने यहीं जालोर में वि. 1080 में ही किया था। साथ ही उसी समय आचार्य जिनेश्वरसूरि ने वहीं जालोर में प्रमालक्ष्म नामक ग्रन्थ भी रचा।

इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा–

श्री बुद्धिसागराचार्यैवृत्तैर्व्याकरणं कृतम्।
अस्माभिस्तु प्रमालक्ष्म, वृद्धिमायातु सांप्रतम्।।

अर्थात् श्री बुद्धिसागराचार्य ने व्याकरण की रचना की और हमारे द्वारा प्रमालक्ष्म की रचना संपन्न हुई।

इस श्लोक में व्याकरण का उल्लेख अकारण नहीं है। यह स्पष्ट करने के लिये है कि जिस समय बुद्धिसागराचार्य ने व्याकरण की रचना की, उसी समय प्रमालक्ष्म की रचना हुई। इस श्लोक द्वारा यह ध्वनित होता है कि दोनों रचनाऐं साथ साथ हुई।

प्रमालक्ष्म में संवत् का कोई उल्लेख नहीं है, पर व्याकरण की प्रशस्ति में समय व स्थान का स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका वर्णन उपर किया जा चुका है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री भंवरलालजी नाहटा द्वारा तीर्थ श्री स्वर्णगिरि–जालोर नामक ग्रन्थ लिखा गया था जो प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर एवं बी. जे. नाहटा फाउण्डेशन, कोलकाता द्वारा प्रकाशित किया गया है। यह ग्रन्थ सन् 1995 में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के पृष्ठ 65 पर लिखा है कि आचार्य जिनेश्वरसूरि ने वि. सं. 1080 का चातुर्मास जालोर में करके चैत्यवंदनक, अष्टक प्रकरण वृत्ति आदि ग्रन्थों की रचना की।

महोपाध्याय विनयसागरजी द्वारा संपादित खरतरगच्छ साहित्य कोश में चैत्यवंदनक ग्रन्थ का आलेखन जालोर में वि. 1080 में करने का उल्लेख है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि शास्त्रार्थ 1080 में हुआ होगा तो कब हुआ होगा! जब चातुर्मास उनका जालोर में हो रहा है।

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के बाद वसति मार्ग का जो अनूठा और अद्भुत वातावरण निर्मित हुआ होगा, उसका गुजरात में प्रचार करने के बजाय वे राजस्थान की ओर विहार करके जालोर चातुर्मास करते, यह संभव नहीं है। जालोर चातुर्मास और ग्रन्थ रचना का उल्लेख कोई श्रवण परम्परा पर आधारित नहीं है, अपितु उन्होंने स्वयं स्वरचित ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रार्थ 1080 से पूर्व कभी भी हुआ हो, पर 1080 में तो नहीं हुआ। क्योंकि उस वर्ष तो वे जालोर में विचरण कर रहे थे। यह यथार्थ अनुमान किया जा सकता है कि अष्टक टीका, प्रमालक्ष्म, पंचग्रन्थी व्याकरण आदि के संशोधन आदि कार्यों में कितना विपुल समय लगा होगा!

उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर यह अनुमान भी नहीं लगा सकते कि पहले वहाँ पाटण में शास्त्रार्थ हुआ होगा और बाद में वे उसी वर्ष जालोर में आ गये होंगे।

गुजरात से राजस्थान का विहार पूर्व समय में इतना आसान नहीं था। फिर अत्यन्त शुद्धता के आग्रही उन मुनि भगवंतों के लिये सीधा विहार तो अत्यन्त दुष्कर था।

फिर गुर्वावली आदि में यह प्रमाण भी तो उपलब्ध होता है कि शास्त्रार्थ में विजयी होने के बाद उन्होंने पूरे गुजरात में विहार करके वसति वास को स्थापित किया।

आचार–शुद्धि के शास्त्र–प्रणीत विचारों को प्रचारित/प्रसारित करने के लिये निश्चित ही उस विजय के बाद तीन से चार वर्ष पर्यन्त उनका गुजरात में ही विहार होना, स्वाभाविक प्रतीत होता है।

इन सब प्रमाणों का निष्कर्ष यह है–

1. शास्त्रार्थ वि. 1080 के पूर्व हुआ।
2. दुर्लभराज का राज्य वि. 1066 से 1078 तक रहा।
3. वि. सं. 1080 में आचार्य जिनेश्वरसूरि आचार्य बुद्धिसागरसूरि आदि मुनि भगवंतों के साथ जालोर में बिराज रहे थे। उनका चातुर्मास भी वहीं था। और प्रमालक्ष्म, चैत्यवंदनक, अष्टक टीका, व्याकरण आदि विशिष्ट और क्लिष्ट ग्रन्थों की रचना वहीं पर रहकर उसी वर्ष में पूर्ण की थी।

कुछ पलों के लिये एक असत् कल्पना कर लेते हैं कि दुर्लभराजा के स्वर्गवास के संवत् में कहीं किसी के द्वारा त्रुटि हुई होगी और वे स्वयं वि. सं. 1080 में विद्यमान होंगे।

पर इस उल्लेख का क्या उत्तर

होगा कि वि. सं. 1080 में स्वयं आचार्य जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि जालोर में थे। उनके जालोर होने का आधार किसी और ने नहीं लिखा, बल्कि स्वयं उन्होंने स्वरचित ग्रन्थ की प्रशस्ति में दिया है। संवत् और नगर का नाम स्पष्ट रूप से अंकित किया है।

इस प्रमाण से यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रार्थ वि. सं. 1080 में नहीं अपितु उसके पूर्व हुआ था। अब उस संवत् की गणना कैसे की जाय!

इतिहासकारों ने अलग अलग संवत् का अनुमान किया है। श्री अगरचंदजी नाहटा वि. 1066 अथवा 1070 के पक्ष में है तो विनयसागरजी के मत से यह शास्त्रार्थ 1078 से पूर्व हुआ होगा। साहित्य संशोधक व पुरातत्ववेत्ता मुनि श्री कान्तिसागरजी 1078 के पक्ष में अपनी राय प्रस्तुत करते हैं।

संवत् के संबंध में समस्त उहापोहों को समाप्त करना था। ताकि हम किसी एक संवत् को स्वीकार कर समाधान कर सकें।

इस संदर्भ में गहन विचार विमर्श वि. सं. 2040 में हुआ, जब गढसिवाना में पोल के भीतर स्थित शंखेश्वर पार्श्वनाथ जिन मंदिर एवं जिनकुशलसूरि दादावाडी की प्रतिष्ठा के साथ साथ दादा जिनकुशलसूरि सप्तम शताब्दी महोत्सव का आयोजन था।

इस समारोह में पूज्य आचार्य जिनउदय सागरसूरिजी म., पूज्य आचार्य जिनकान्तिसा गरसूरिजी म., पू. मुनि श्री महोदयसागरजी म. पू. मुनि श्री कैलाश सागरजी म. आदि मुनि मंडल के साथ साथ समुदायाध्यक्षा श्री चंपाश्रीजी म., अविचलश्रीजी म., प्रवर्तिनी श्री सज्जनश्रीजी म. साध्वी श्री राजेन्द्रश्रीजी म. हेमप्रभाश्रीजी म., आदि वरिष्ठ साध्वियों की पावन उपस्थिति थी। समारोह में श्री भंवरलालजी नाहटा, श्री विनयसागरजी आदि इतिहास के विशिष्ट विद्वान् व्यक्तित्व उपस्थित थे।

उस समय इस विषय में गहन चर्चा चली थी। निर्णय करते समय इस मत का ध्यान रखा गया कि

दुर्लभराजा का शासन 1076 या 1078 तक ही रहा था तथा 1080 में आचार्यद्वय जालोर में बिराजमान थे।

सभी स्पष्ट रूप से एक मत थे कि 1080 तो हो ही नहीं सकता, तब उपस्थित आचार्यश्री, मुनि मंडल, साध्वी मंडल, इतिहासज्ञों आदि ने सर्वसम्मति से खरतर बिरुद की प्राप्ति का वि. 1075 का वर्ष निश्चित किया।

इसी निर्णय के आधार पर 35 वर्ष पूर्व मेरे द्वारा रचित/निर्मित खरतर चालीसा में वि. सं. 1075 का उल्लेख किया गया था। उस समय प्रकाशित श्री जिनकुशलसूरि सप्तम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ में यह चालीसा प्रकाशित है।

उस चालीसा जिसकी रचना वि. 2040 में चैत्र सुदि 12 को की थी। उसमें लिखा है–

अर्पण खरतर बिरुद किया है,
परकट भावोल्लास किया है।
सूरि जिनेश्वर घोषित होते,
विजयी विजयी उद्घोष प्रकटते।।25।।
संवत् सहस पचोतर वर्षे,
घटना बनी यह सब जन हर्षे।
तब से गच्छ हुआ यह खरतर,
शुभ्र सनातन सात्विक खरतर।।26।।
श्री जिनकान्तिसूरिवर राजे,
सिंहगर्जनावत् वे गाजे।
प्रज्ञापुरुष प्रवर कहलाते,
सुन व्याख्यान सहु हरसाते।।37।।
प्रधान शिष्य तसु दोय हजारे,
चालीसे शुभ सूरजवारे।
चैत्र सुदि बारस दिन आया,
मणिप्रभसागर अति हरसाया।।38।।

उपसंहार–

इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ द्वारा खरतर बिरुद की प्राप्ति 1080 से पूर्व ही हुई है। वि. सं. 1075 का निर्णय गढ़ सिवाना में पूज्य गच्छाधिपति आचार्यद्वय, मुनिराजों, साध्वीवर्याओं व इतिहासज्ञों की आज से 35 वर्ष पूर्व हुई सर्वसम्मति का परिणाम है।

वीतराग परमात्मा की आज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मन वचन काया से मिच्छामि दुक्कडं।